

उत्तर औपनिवेशिक भारत में एकाधिक मुस्लिम आधुनिकताओं का विमर्श: हिन्दी और मुस्लिम पहचानों का निर्माण

हिलाल अहमद

हिलाल अहमद विकासशील समाज अध्ययन केन्द्र दिल्ली में फेलो हैं। इधर सक्रिय हुए राजनीतिक सामाजिक विश्लेषकों में अत्यंत खास नाम।

मैं हिन्दी की आधुनिकता को परोक्ष रूप में सम्बोधित करना चाहता हूँ। इसके दो कारण हैं। प्रथम, हिन्दी की आधुनिकता का प्रश्न 'एकाधिक आधुनिकताओं' के साथ सिद्धांत तौर पर जुड़ा हुआ है। एकाधिक आधुनिकताओं से मेरा आशय आधुनिकता के विभिन्न प्रकारों से है। मैं एस.एन. आईसेन्टड्ट (S.N. Eisentadt) के तर्क को व्यापक अर्थों में लेता हूँ। आईसेन्टड्ट बताते हैं कि जिस परिस्थिति को हम आधुनिकता कहते हैं वह अपने हर रूप में एकाधिक होने की प्रवृत्ति लिए हुए थी। यहां तक कि योरोप में होने वाले परिवर्तन जिन्हें 'आधुनिक' कहा गया अपने आप में एक दूसरे से बहुत भिन्न थे और उन्हें एकरूप मान लेना आधुनिकता की पहचान की सबसे बड़ी गलती होगी।

एकाधिक आधुनिकताओं का उपरोक्त तर्क हिन्दी की आधुनिकता पर भी लागू होता है। हिन्दी की आधुनिकता अन्य आधुनिकताओं से जुड़ी हुई है। इसलिए मेरा यह मानना है कि उन 'अन्य आधुनिकताओं' की व्यापक चर्चा हिन्दी की आधुनिकता की बहुलता को उजागर करेगी।

दूसरा कारण भाषायी आधुनिकताओं का व्यापक क्षेत्र है। हिन्दी एक आधुनिक भाषा होने के नाते एक विशिष्ट रचनात्मक क्षेत्र की स्थापना करती है जिसका मूल्यांकन करने के लिए कुछ खास संदर्भ बिन्दुओं का सहारा लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए भाषा की आंतरिक संरचनाओं में होने वाले आधुनिक परिवर्तन, उसके सार्वजनिक होने की प्रक्रिया, उसका रोजमर्रा का विमर्श, भाषा की इस आधुनिकता की व्यापकता को दर्शाते हैं। ऐसा सम्भव है कि भाषा की आधुनिकता का अध्ययन इन्हीं आधारों पर हो। हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में यह प्रक्रिया पिछले दो तीन दशक से चल रही है। ऐसे में हिन्दी की आधुनिकता को परोक्ष रूप में समझने से हम इस सीधी प्रक्रिया की पड़ताल को ज्यादा

प्रासंगिक कर सकते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस लेख में मैं मुस्लिम आधुनिकताओं और विशेषकर उत्तर औपनिवेशिक भारतीय मुस्लिम आधुनिकताओं के संदर्भ में हिन्दी की आधुनिकता का आकलन करने का प्रयत्न करना चाहता हूँ। लेख मूलतः दो केन्द्रीय प्रश्न उठाता है :

1. आधुनिक मुस्लिम पहचानों के निर्माण में हिन्दी की क्या भूमिका रही है?
2. इस्लाम/मुस्लिम/उर्दू के अवधारणात्मक पैकेज का आधुनिकता के साथ क्या रिश्ता है?

इन दो प्रश्नों की चर्चा करते हुए मैं एकाधिक आधुनिकताओं के सिद्धांत को एक फ्रेमवर्क के तौर पर इस्तेमाल करूंगा। इसका मुख्य आशय यही है कि भारतीय आधुनिकता कई अन्य आधुनिकताओं का एक पारिभाषिक नाम है और ऐसे में मुस्लिम आधुनिकताओं की पड़ताल भारतीय आधुनिकता के कई अछूते पहलुओं को उजागर करती है। यह चर्चा हमें अभय बी. साजू के तर्क की समग्रता और सीमाओं दोनों से आगे ले जा सकती है। साजू, जिनकी पुस्तक Multiple Muslim Modernities, इस्लामिक सिद्धांतों और नागरिक समाजों के गठन के अध्ययन पर आधारित है, हमें बताते हैं कि मुस्लिम समाजों में जिन आधुनिकताओं का प्रसार हुआ वे एकाधिक थीं और नागरिकताओं के कई स्वरूपों पर टिकी हुई थीं। यह एक सशक्त तर्क है परंतु यह तर्क दक्षिण एशिया और विशेषकर भारत के मुसलमानों के अध्ययन से सैद्धांतिक आधारों पर काफी दूर है। भारत न तो एक घोषित इस्लामी देश है और न ही यहां रहने वाली बहुसंख्यक जनसंख्या मुसलमान है। इसके बावजूद मुसलमान पहचान भारतीय पहचान का हिस्सा है। साजू का सिद्धांत इस विशेष केस को स्पष्ट नहीं कर सकता। हमारा विश्लेषण, मेरा मत है, हमें इस भारतीय मुस्लिम विशिष्टता को समझने में भी मदद करेगा।

लेख चार हिस्सों में बंटा हुआ है। पहला भाग इस्लाम और आधुनिकताओं के बीच दर्शाये गये विरोधाभासों का अध्ययन करके उसकी 'आधुनिकता' की पड़ताल करता है। दूसरा हिस्सा मूलतः उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी के भारतीय मुसलमानों के साथ मौजूदा रिश्तों पर रोशनी डालता है। तीसरा हिस्सा बाबरी मस्जिद के बाद उपजी प्रवृत्तियों का लेखा जोखा है। इस हिस्से में मुस्लिम समाजों में खासकर उत्तर भारत में, हिन्दी के प्रसार को देखने की कोशिश की गयी है। लेख का चौथा भाग एक व्यापक तर्क की रूपरेखा है।

चर्चा शुरू करने से पहले यह जरूरी है कि कुछ बातें स्पष्ट कर दी जायें। ऐसा करने से तर्क और संदर्भ का अंतर्सम्बंध कायम रहेगा, यह मैं मानता हूँ। मैं मूलतः तीन स्पष्टीकरण देना चाहता हूँ।

पहला, लेख कोई व्यापक सिद्धांत का निर्माण नहीं करता। अपितु इस प्रयास का उद्देश्य मूलतः मुस्लिम आधुनिकताओं को हिन्दी के संदर्भ में सैद्धांतिक बहस के रूप में स्थापित करना है ताकि हमारा विमर्श समकालीन हो सके।

दूसरा, मैं मूलतः उत्तर भारत और खासकर दिल्ली, यू.पी. और बिहार के मुस्लिम समुदायों पर टिप्पणी कर रहा हूँ। हालांकि लेख के तर्क को दक्षिण भारतीय मुसलमानों से भी सम्बंधित करके देखा जा सकता है। पर हिन्दी विरोध के बीच स्थापित दक्षिण भारतीय उर्दू विमर्श का चर्चा यह लेख नहीं करता इसलिए यह एक सीमित दायरे पर केन्द्रित है।

तीसरा, लेख भाषा को अन्य सामाजिक राजनीतिक प्रक्रियाओं से जोड़ कर देखता है। ऐसा करने के चलते उर्दू विमर्श को मैं एक ऐसी ही प्रक्रिया के तौर पर देखता हूँ। उर्दू को मुस्लिम पहचान की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी मानने वालों के तर्कों से बचने की यह कोशिश हमारे विचार क्षेत्र को व्यापक कर सकती है, ऐसी मैं उम्मीद करता हूँ।

बातचीत की शुरुआत इस्लाम और आधुनिकता के विरोधाभास से करते हैं। हमें यह बार बार बताया जाता है कि इस्लाम और आधुनिकता दो बिल्कुल विपरीत विमर्श हैं। इस्लाम एक रूढ़िवादी और कट्टर धार्मिक संरचना है जिसका 'प्रगति' जैसे आधुनिक विचारों से कुछ लेना देना नहीं है। इसीलिए इस्लाम अन्य धर्मों की तुलना में स्थिर, शिथिल और पुरातन प्रेम पर टिका हुआ एक स्थायी विमर्श है। इसके बरअक्स आधुनिकता प्रगतिशीलता, मानवीय सम्भावनाओं में विश्वास का विमर्श है, जहां अतार्किकताओं, अंधविश्वासों और बुनियादी परम्परावाद के लिए कोई स्थान नहीं है। इस विरोधाभास के कारण इस्लाम की आंतरिक संरचनाओं में आधुनिक होने की कोई प्रवृत्ति नहीं है।

यह तर्क कोई नया नहीं है। वास्तव में 9/11 के बाद हम इस तर्क के कई आयामों से परिचित हुए हैं। यही कारण है कि पिछले एक दशक में इस्लाम— आधुनिकता विवाद विश्व के सबसे बड़े और जटिल विषयों के तौर पर स्थापित हुआ है।

मेरा मत है कि इस विरोधाभासी सम्बंध को दो स्तरों पर देखना चाहिए। पहला स्तर है प्रस्तुति का। हमें देखना चाहिए कि इस्लामी सिद्धांत और इन सिद्धांतों के मुसलमानों के साथ रिश्तों को कैसे दिखाया जाता है। दूसरा स्तर है आधुनिकता के अपने सिद्धांत क्षेत्र का। यदि आधुनिकता परिस्थितियों का नाम है तब क्या यह सम्भव है कि कोई विमर्श इन परिस्थितियों के बाहर रह सकता है? दूसरे शब्दों में क्या यह मुमकिन है कि इस्लाम आधुनिकता के घेरे में आ ही नहीं सकता?

आइये लौटें पहले स्तर पर। इस्लामी सिद्धांतों के विषय में तीन सशक्त धारणाएं हैं :

1. इस्लामी सिद्धांत शाश्वत हैं; स्थिर हैं; और इसके चलते 'पवित्रता' का प्रतीक हैं।
2. मुस्लिम समुदाय इस्लामी सिद्धांतों को ज्यों का त्यों व्यवहार में लाते हैं। इसलिए इन सिद्धांतों की शाश्वतता और पवित्रता व्यावहारिक तौर पर स्थापित होती है।
3. समय/काल और संस्कृति जैसे तत्व इस्लामी सिद्धांतों की ठोस संरचना को प्रभावित नहीं करते। इसलिए हर युग और हर स्थान में मुसलमान और इस्लाम स्थिर हैं और रहेंगे। यह एकरूपता बहुलता की विरोधी है।

ये धारणाएं कितनी मजबूत हैं इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि इस्लाम विरोधी और इस्लाम समर्थक दोनों इन धारणाओं का अपने तर्कों में इस्तेमाल करते हैं। परंतु सवाल यह है कि ये धारणाएं आखिर किस व्यापक समझ को स्थापित करती हैं? मैं इन धारणाओं के दो सीधे अर्थ पाता हूँ।

1. इस्लाम की सार्वभौमिकता इतनी सशक्त है कि उस पर कोई सांस्कृतिक प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरे शब्दों में संस्कृति जैसे तत्व इस्लाम की बुनियाद को नहीं बदल सकते। इस्लाम जहां जाता है वहां अपनी खास संस्कृति स्थापित कर देता है।

2. क्योंकि सिद्धांत और व्यवहार में कोई अंतर नहीं है इसलिए मुसलमानों का हरेक कृत्य इस्लामी है — इसलिए धार्मिक है और इसी कारण उनके लिए पवित्र भी है।

लेकिन क्या वास्तव में ऐसा है। आइये दो उदाहरणों से इन धारणाओं और उनसे उपजी समझ की जांच करें। जिन लोगों ने 19वीं सदी के काबा की तस्वीरें देखी हैं वे जानते हैं कि वर्तमान इबादत पद्धति कितनी बदल चुकी है।

इस्लाम के प्रसार ने इस्लाम के भीतर कई धार्मिक सम्प्रदायों और उनके स्थापित कानूनों, जिन्हें शरीयत कहा जाता है, को जन्म दिया। मजे की बात यह है कि शिया और सुन्नी दोनों सम्प्रदायों में कई अन्य धाराएं फूटीं जिन्हें 'आधुनिकता' के आगमन से कई शताब्दी पूर्व 'मुस्लिम धाराएं' मान लिया गया। इस तरह इस्लाम में एक धार्मिक बहुलता का निर्माण हुआ। काबा की 19वीं सदी की तस्वीरें साफतौर पर इस बहुलता को दर्शाती हैं। हम पाते हैं कि मुसलमान एक ही स्थान पर पांच या

छ: तरीके से नमाज अदा कर रहे हैं और एकरूपता लाने की कोई कोशिश भी नहीं हो रही।

परंतु काबा की आज की तस्वीरें एकरूपता का प्रस्तुतिकरण हैं।

दूसरा उदाहरण मस्जिदों के वास्तुशिल्प का है। अगर हम अफ्रीका की मस्जिद और बंगाल की मस्जिद की तुलना करें तो पावेंगे कि दोनों मस्जिद होने की बजाय अपनी सांस्कृतिक वास्तुकला का नमूना हैं। लेकिन मजे की बात यह है कि 1980 के बाद से विश्व की मस्जिदों में भी एकरूपता आने लगी है। अब 'हरी मीनार' और सफेद पट्टी इस्लामी मस्जिद की पहचान बनते जा रहे हैं।

ये उदाहरण हमें अपने दूसरे स्तर यानि आधुनिकता की परिधि और उसमें इस्लाम का स्थान की ओर ले जाते हैं। 19वीं सदी की तस्वीरें हमें बताती हैं कि जिस अवधारणा को हम इस्लाम कहते हैं वह कई सांस्कृतिक टकरावों और सम्मिश्रणों का नाम है। यही इसकी बहुलता का एक सशक्त कारण रहा है। लेकिन वर्तमान तस्वीरें इसके उलट हमें बताती हैं कि इस्लाम एकरूपता का नाम है जो सांस्कृतिक विरोधाभास को कोई महत्व नहीं देता। क्या इस्लाम की वर्तमान तस्वीर आधुनिक नहीं है?

आइये अब पवित्रता के पक्ष पर लौटें। मैं कुरान के उदाहरण से अपनी बात रखना चाहता हूँ। जिस कुरान को हम जानते हैं उसे न तो पैगम्बर मोहम्मद ने बनाया है और न ही उसमें आयतों का क्रम ऐतिहासिक है। यह सर्वविदित है कि कुरान का वर्तमान स्वरूप पहले तीन खलीफाओं के काल में जन्मा। इसके 30 पारे और उनका क्रम खलीफा युग की राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियों की देन हैं। इसलिए जिस कुरान को कभी न बदलने वाली खुदाई किताब कहा जाता है, दरअसल विशेष परिस्थितियों में इस्लाम के मानने वाले प्रारम्भिक राजनीतिक रहनुमाओं के अपने विमर्श का नतीजा है। उसमें मोहम्मद साहब की जिन्दगी की क्रमबद्धता और आयतों का ऐतिहासिक क्रम दोनों मौजूद नहीं हैं। कुरान के इसी मानव निर्मित स्वरूप के कारण ही यह सम्भव हो सका कि उसकी अलग अलग व्याख्याएं हो सकीं। औपनिवेशिक भारत इस पहलू का सबसे सटीक उदाहरण है।

यह उदाहरण हमें बताता है कि इस्लामी पवित्रता की अवधारणा भी एक निर्मित अवधारण ा है, जिसके आधार एक बार पुनः आधुनिक हैं। यह विश्लेषण क्या दर्शाता है? आगे बढ़ने से पहले आइये जिन बिन्दुओं की हमने चर्चा की है, उन्हें सूत्रबद्ध कर लें :

1. इस्लामिक एकरूपता और उसकी पवित्रता का विमर्श ऐतिहासिक तौर पर सही नहीं है। इस्लाम की अपनी एक 'विशिष्ट' बहुलता है जिसे न तो आधुनिकता के बहुलवादी सिद्धांत से और न ही किसी अन्य धार्मिक दार्शनिक परम्परा से जोड़ना चाहिए।

2. इस्लामी एकरूपता और पवित्रता का वर्तमान विमर्श 'आधुनिक' है। सिद्धांत तौर पर यह समुदाय की जिस परिभाषा को स्थापित करता है वह आधुनिकता के कुछेक मूल आधारों में से है।

हमारी आगे की चर्चा इन्हीं दो बिन्दुओं के माध्यम से उत्तर औपनिवेशिक मुस्लिम आधुनिकताओं का अध्ययन है। हिन्दी की भूमिका का इसमें एक महत्वपूर्ण स्थान है।

II

अतहर फारुखी की पुस्तक Redefine Urdu Politics in India काफी हद तक हमारे इस विमर्श के लिए प्रासंगिक है। हालांकि मैं फारुखी और अन्य लेखकों के विचारों से बहुत ज्यादा सहमत नहीं हूँ, फिर भी यह पुस्तक पिछले पचास वर्षों के मुस्लिम - उर्दू सम्बंध का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। इस पुस्तक की चर्चा करने के दो कारण हैं। पहला यह पुस्तक 1950 के बाद चलने वाली उर्दू राजनीति पर रोचक सामग्री उपलब्ध कराती है। यह रोचक सामग्री उर्दू मुस्लिम सम्बंध के अलग अलग आयामों को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि लेख के इस भाग में मेरा उद्देश्य मुस्लिम उर्दू सम्बंध को हिन्दी की नजर से देखने का है, ऐसे में फारुखी की पुस्तक एक ऐसा संदर्भ ग्रंथ बन जाती है जिसके

आधार पर हम कुछ राजनीतिक प्रवृत्तियों की पहचान कर सकते हैं।

दूसरा कारण भी है। पुस्तक हिन्दी के प्रभाव पर एकदम चुप्पी साधे हुए है। उर्दू के भविष्य और वर्तमान की चर्चा इसके हिन्दी सम्बंध के बिना सम्भव नहीं है। हिन्दुतानी/हिन्दी/उर्दू का अकादमिक विमर्श हालांकि बहुत महत्वपूर्ण है जिसे यह पुस्तक काफी हद तक दर्शाती भी है, परंतु मुसलमान समुदायों में हिन्दी के इस्तेमाल और उसका इस्लामीकरण एक ऐसा क्षेत्र है जिसका अध्ययन हमें इस पुस्तक के विमर्श से आगे ले जाता है।

यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि हिन्दी/हिन्दुस्तानी/उर्दू के बीच क्या रिश्ता है। मेरा मत है कि हिन्दी और उर्दू स्थापित आधुनिक भाषाएं हैं जिनका अपना व्याकरण है; लिपि है; साहित्य है। हिन्दुस्तानी इनके बीच में मौजूद एक ऐसी भाषायी कोशिश है जिसका रोजमर्रा का विमर्श स्थापित हो चुका है। लेकिन हिन्दुस्तानी के स्थापित भाषा होने का सवाल पेचीदा है, जिस पर अलग से बहस होनी चाहिए। और ऐसी बहसों हो भी रही हैं। बहरहाल मैं इस बहस से इस लेख को दूर रखना चाहता हूं। मैं यहां हिन्दी, उर्दू को आधुनिक/आधिकारिक रूप में देख रहा हूं जिनका अपना निश्चित क्षेत्र तय है। इसी तयशुदा क्षेत्र के कारण लिपि बदल देने की बहस भी बेमानी हो जाती है। क्योंकि लिपि बदलने से सार्वजनिक विमर्श नहीं बदलते। इस बिन्दु को मैं नागरी लिपि में निकले अखबार 'नयी जमीन' की भाषा के उदाहरण से स्पष्ट करूंगा।

बात को दोबारा उर्दू मुस्लिम सम्बंध पर लाते हैं। 1947 से बहुत पहले यह सम्बंध स्थापित हो चुका था। उर्दू मुसलमानों की भाषा बन चुकी थी परंतु यह सम्बंध मुस्लिम राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण आधार नहीं था। अगर पार्थ चैटर्जी के आंतरिक/बाह्य क्षेत्रों की अवधारणा की नजर से देखें तो मुस्लिम राजनीति का आंतरिक क्षेत्र उर्दू को एक सांस्कृतिक पहचान मानता रहा क्योंकि यह आंतरिक क्षेत्र 'पवित्र' बनाया गया था जहां किसी भी बाहरी हस्तक्षेप के लिए कोई जगह नहीं थी। उर्दू, पर्सनल लॉ और वक्फ पवित्र इस्लामी मद्दे बन गये। इसके बरअक्स बाह्य राजनीतिक क्षेत्र आधुनिक राजनीतिक संरचनाओं की मांगों का था। मुसमानों के अलग राजनीतिक प्रतिनिधित्व की मांग से लेकर पाकिस्तान के निर्माण तक मुस्लिम राजनीतिक समुदाय का गठन एक आधुनिक प्रक्रिया रही। फ्रांसिस रॉबिन्सन ने इस प्रक्रिया की आधुनिकता का विश्लेषण करते हुए इसे इस्लामी समुदाय के नवनिर्माण के तौर पर देखा है।

लेकिन 1947 के बाद स्थितियां पूरी तरह बदल गयीं। विशेषकर संविधान के पहले ड्राफ्ट के पूरा होने के बाद। जब मुसलमानों के लिए नौकरियों एवं विधायी निकायों में आरक्षण की बात पूरी तरह अस्वीकार हो गयी, तब संविधानसभा में होने वाले विमर्श में उर्दू मुस्लिम सम्बंध नये सिरे से उठा। अभय कुमार दुबे के अनुसार ऐसे में संस्कृत राष्ट्रवाद का एक नया अध्याय शुरू हुआ जिसने उर्दू/हिन्दुस्तानी बहस को संस्कृत के नजरिये से प्रभावित किया। दूसरी ओर नवीन चंद्र के अनुसार उर्दू/हिन्दी बहस राजभाषा/राष्ट्रभाषा के विमर्श में बदल गयी पर सवाल यह है कि उर्दू के अपने विमर्श का क्या हुआ?

पॉल ब्रास एक रोचक तर्क देते हैं। उनके अनुसार आजाद भारत में धर्म एक राजनीतिक श्रेणी नहीं बन सका, जिसका सीधा कारण धर्म के नाम पर देश का विभाजन था। ऐसे में भाषा एक ऐसा सांस्कृतिक बिन्दु थी जिसको संदर्भ बना कर धार्मिक समुदाय अपनी राजनीति को परिभाषित कर सकते थे। ब्रास के अनुसार उर्दू के साथ भी ऐसा ही हुआ। उर्दू मुस्लिम पहचान के तौर पर इस तरह परिभाषित की गयी कि उर्दू की राजनीतिक मांग एक पवित्र धार्मिक मांग बन गयी। यह 'पवित्रता' का विमर्श जैसाकि पहले कहा गया, आधुनिक था इसलिए उर्दू की एकरूपता इस्लामी एकरूपता में बदल गयी।

उर्दू मुस्लिम सम्बंध हमें तीन परिप्रेक्ष्यों से परिचित कराता है। पहला, परिप्रेक्ष्य मुस्लिम

राजनीतिक समूहों का है। ऐसा मानना बिल्कुल गलत है कि उर्दू के सवाल पर राजनीतिक समूहों में कोई आंतरिक बहस नहीं थी। एक ओर स्थापित समूह जमात-ए-इस्लामी और जमीयत उलेमा-ए-हिन्द उर्दू के 'पवित्र' दृष्टिकोण को राजनीतिक मांग के तौर पर उठाते रहे वहीं नदवातुल उलूम लखनऊ ने उर्दू को अरबी से जोड़ कर ठोस अकादमिक पहल शुरू की। लेकिन ये आंतरिक विरोधाभास उर्दू के मुद्दे पर नहीं थे, अपितु इस बात पर थे कि उर्दू की रक्षा का सबसे बेहतर तरीका कौन सा हो। इस व्यापक एकमत के चलते उर्दू की मांग एक इस्लामी मांग में बदल दी गयी।

उर्दू मुस्लिम सम्बंध का दूसरा परिप्रेक्ष्य सेक्यूलर था। सेक्यूलरवाद के समर्थकों के एक बड़े समूह ने उर्दू को मुसलमानों की भाषा मान कर अहस्तक्षेप की एक ऐसी नीति का समर्थन किया कि न चाहते हुए भी उर्दू का सवाल साम्प्रदायिक/सेक्यूलर की बहस का अहम हिस्सा बन गया। नेहरू के कई विरोधाभासी वक्तव्य इस तथ्य को उजागर करते हैं। इस अहस्तक्षेपकारी सेक्यूलरवाद की वजह से उर्दू का सवाल व्यापक भारतीय भाषाओं के समर्थन और अंग्रेजी विरोध का हिस्सा नहीं बन सका।

उर्दू का तीसरा परिप्रेक्ष्य हिन्दुत्व रहा। हिन्दुत्व के एक बड़े हिस्से ने भी उर्दू को राष्ट्रीयता के लिए खतरा और छद्म सेक्यूलरवाद के तौर पर परिभाषित किया। इस तरह उर्दू मुस्लिम सम्बंध की पवित्रता स्थापित होती चली गयी। यहां इस तथ्य का उल्लेख जरूरी है कि सेक्यूलरवादी विमर्श और हिन्दुत्व विमर्श में एक विशेष अंतर रहा है जिसे नवीन चंद्र ने अपने एक लेख में बहुत सुंदरता और स्पष्टता से रेखांकित किया है। मैं इस बहस में और अंदर न जाते हुए यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि इन तीनों ही परिप्रेक्ष्यों ने उर्दू की मांग को, हिन्दी की मांग के साथ स्थापित किया। लेकिन मुस्लिम समुदायों और उर्दू का रिश्ता जिस तरह दिखाया गया वह सैद्धांतिक तौर पर सतही और व्यावहारिक तौर पर अनैतिहासिक था। मुसलमानों और हिन्दी का सम्बंध मेरे विचार से एक ऐसा संदर्भ बिन्दु है जो हमारी आगे की चर्चा के लिए बहुत जरूरी है।

III

मैं अपनी बात बाबरी मस्जिद विध्वंस के आस पास से शुरू करता हूं। 1970 का दशक तक आते आते मुस्लिम राजनीति का एक नया युग शुरू हुआ जिसमें राजनीतिक मांगें तो मूलतः वही रहीं परंतु राजनीतिक रणनीति ज्यादा उग्र होती चली गयी। 1972 में पर्सनल लॉ बोर्ड की स्थापना, 1975 में शाही इमाम की फतवा राजनीति का उदय; 1985 में शाहवानो विवाद पर अली मियां की उलेमा राजनीति और 1986-88 तक का बाबरी मस्जिद समन्वय, दर्शाते हैं कि मुस्लिम राजनीति का चरित्र बदल रहा था। परंतु बाबरी मस्जिद के मुद्दे का अंत होते होते उत्तर भारत में दो नयी प्रवृत्तियों का विकास हुआ। ये प्रवृत्तियां थीं – एक नये मजहबी मुस्लिम मध्यम वर्ग का उदय जिसकी अगुवाई तब्लीगी जमात कर रहा था; एवम् मुसलमानों के बीच जाति राजनीति का उदय जिसने मुस्लिम समुदाय की आंतरिक संरचनाओं पर प्रश्न उठाया। दोनों ही प्रवृत्तियां जनसम्पर्क और आम मुसलमान से जुड़ने वाली थीं इसलिए जरूरी था कि ऐसे माध्यमों की तलाश की जाय जो आम मुसलमान तक पहुंचते हों। मज्ददार बात यह है कि हिन्दी को एक ऐसे ही माध्यम के तौर पर पाया गया और नयी आधुनिक मुस्लिम पहचानों के निर्माण की एक अनूठी और विशिष्ट संरचना तैयार हुई।

नवोदित मुस्लिम मध्यम वर्ग, 1950 के बाद उपजे उदार मुसलमानों की तुलना में ज्यादा मजहबी था। इसी कारण मस्जिद एक ऐसे केन्द्र में बदल गयी जो पांच बार नमाज अदा करने के स्थान से कुछ ज्यादा था। तबलीगी जमात की लोकप्रियता ने मस्जिद को इस्लाम सीखने सिखाने का स्थान बना दिया। ऐसी स्थिति में नमाज और कुरान पढ़ने वालों की संख्या में जबरदस्त इजाफा हुआ। अब मस्जिदों को बड़ा करने की जरूरत पैदा हुई और लगभग सभी बड़ी मस्जिदों का विस्तार शुरू हुआ।

मजेदार बात यह है कि इन मस्जिदों का पुनर्निर्माण भारतीय इस्लामिक वास्तुकला के आधार पर न होकर मध्यपूर्व, विशेषतः सऊदी अरब में बनी मस्जिदों के आधार पर हुआ। नयी मस्जिदों की हरी सफेद मीनारों ने दिल्ली जैसे महानगर में एक विशिष्ट मुस्लिम पहचान को स्थापित किया।

लेकिन मध्यपूर्व की इस वास्तुशैली के साथ मस्जिद में आने वालों की सम्पर्क भाषा उर्दू या अरबी नहीं थी। यह हिन्दी थी। मस्जिदों में लगे नोटिस बोर्डों से लेकर कब्रिस्तान में कब्रों पर लगे पत्थरों तक पर हरेक सूचना हिन्दी में लिखी जाने लगी।

यह केवल कोई बाहरी परिवर्तन नहीं है। हिन्दी में छपने वाला इस्लामी साहित्य, उर्दू में छपने वाले साहित्य के नजदीक पहुंच रहा है। तबलीगी जमात का बुनियादी ग्रंथ फजाइले आमाल एवं कुरान का हिन्दी तर्जुमा हिन्दी में बिकने वाली सबसे लोकप्रिय पुस्तकें हैं।

हिन्दी के इस विस्तार का एक अन्य पहलू अखबार है। 1992 में नयी दुनिया जोकि एक स्थापित उर्दू अखबार है ने एक नया हिन्दी अखबार 'नयी जमीन' शुरू किया। इसके सम्पादक शाहिद सिद्दीकी के अनुसार वे उस पाठक तक पहुंचना चाहते थे जो लिपि के अंतर की वजह से 'नयी दुनिया' से दूर था। यही वजह थी कि अपने पहले कुछ महीने में यह साप्ताहिक अखबार केवल भाषांतर करता रहा लेकिन इसकी भाषा में एक जबरदस्त परिवर्तन हुआ और 1993 तक आते आते इसकी भाषा हिन्दुस्तानी से खालिश हिन्दी में बदल गयी। यही नहीं हिन्दी के कई स्थापित पत्रकार और लेखक जोकि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखते थे, नयी जमीन के स्तम्भकार बन गये। इसके बावजूद 'नयी जमीन' का मुख्य पाठक उत्तर भारत का मुसलमान ही रहा।

मुस्लिम जाति राजनीति ने भी हिन्दी को अपनी पहचान बनाया विशेषकर बिहार में। 1998 में अली अनवर ने अपनी पुस्तक 'मसावत की जंग' प्रकाशित की। यह पुस्तक हिन्दी में लिखी गयी। पुस्तक ने बिहार के मुसलमानों में मौजूद जाति संरचनाओं के शोषणात्मक चरित्र का खुलासा किया। पुस्तक ने पहले से चल रही दलित मुस्लिम राजनीति को एक जबरदस्त उत्साह प्रदान किया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम इलिट को भी दलित मुसलमानों की आरक्षण की मांग को मुस्लिम मांग के तौर पर स्वीकार करना पड़ा। अनवर ने, जिन्होंने पसपंदा मुस्लिम महाज नामक संगठन का निर्माण किया, हिन्दी में अपनी एक पत्रिका 'पसपंदा आवाज' भी शुरू की। अनवर के अनुसार वे उर्दू समर्थक हैं परंतु सच यह है कि मुसलमानों का बड़ा तबका हिन्दी को पढ़ता, समझता है।

IV

ये उदाहरण क्या दर्शाते हैं? इम्तियाज अहमद के तर्क को लागू करें तो यह कहा जा सकता है कि हिन्दी की मुस्लिम पहचान भारतीय मुसलमानों के विशिष्ट दक्षिण एशियायी मजहबी पहचान का ही एक स्वरूप है। लेकिन हमारे उदाहरण इस तर्क की परिधि से बाहर जाते हैं। मस्जिदों की हरी मीनारें यह बताती हैं कि इस्लाम के केन्द्रों से उनका अटूट रिश्ता है। इसी अटूट रिश्ते को रॉबिन्सन इस्लामी सभ्यताओं का एक केन्द्रबिन्दु बताते हैं लेकिन रॉबिन्सन का तर्क हिन्दी के मुस्लिम सम्बंध की अनदेखी करता है। तो फिर इन प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण क्या हो?

हमारे विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण पहलू एकाधिक आधुनिकताओं का प्रसार है। मुस्लिम समुदायों के बदलाव बहुत सीधे तौर पर दो विरोधाभासी प्रवृत्तियों की ओर इशारा कर रहे हैं। एक ओर इस्लामी एकरूपता नये सिरे से स्थापित हो रही है और मस्जिदों के निर्माण से लेकर मजहबी रिवाजों और वेशभूषा तक के लिए इस्लाम एक संदर्भ बिन्दु बन रहा है। दूसरी ओर हिन्दी का प्रसार, जाति, लिंग और वर्ग के आंतरिक द्वंद्व मुस्लिम समुदायों की बहुलता को दर्शा रहे हैं। आइसेन्टडट की मानें तो ये दो विरोधाभासी प्रवृत्तियां आधुनिकता की एकाधिकता का ही एक प्रतीक हैं। लेकिन केवल एकाधिक कह कर आधुनिकता

के इस स्वरूप की विशिष्टता के साथ समझौता नहीं करना चाहिए। पर यह विशिष्टता क्या है?

मेरा मत है कि भारतीय इस्लाम/भारतीय मुसलमान आधुनिक रचनाएं हैं। इन रचनाओं की आंतरिक बुनावट यह दर्शाती है कि भारतीय आधुनिकता और विश्व की मुस्लिम आधुनिकता दोनों के तत्व इनमें एक अनूठा सामजस्य स्थापित करते हैं। इस बुनावट का एक सशक्त तार हिन्दी की आधुनिकता का है जोकि एक पहचान भी है और एक पहचान माध्यम भी। इन एकाधिक आधुनिकताओं का यह विमर्श भारतीय मुसलमानों के वर्तमान की एक सम्भव व्याख्या है।-

संदर्भ

- Ali Anwar. 1998 *Maswat ki Jung*, ISI, New Delhi/Patna.
- Ahmed, Hilal. 2009 *Muslims as a Political Community*, *Seminar*; 602.
- Brass Paul. 1947 *Language, Religion and Politics in North India* London: Cambridge University Press.
- Nilufer Gole 2000. Snapshots of Islamic Modernities. *Daedalus* Vol. 129, No. 1.
- S N Eisenstadt, 2000. Multiple modernities. *Daedalus* 2000; 129, No. 1.
- Sajoo, Aryn.B. 2008. *Muslim Modernities : Expressions of the Civil Imagination*. I.B. Tauris & Company. London.
- Ahmad Ahmad, Imtiaz. ed. 1981. *Ritual and Religion among Muslims in India*. Delhi.: Manohar.
- Farooqui, Ather, ed. 2005. *Redefining Urdu Politics in India*. OUP. New Delhi.

आगामी अंक में पढ़ें *हिन्दी की आधुनिकता* पर अभय कुमार दुबे का आलेख